□ डा० सागरमल जैन एम. ए., पी-एच. डी.
[भारतीय धर्म एवं दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन में संलग्न, चिन्तनशील लेखक।
संप्रति—हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल में दर्शनविभाग के अध्यक्ष]

निश्चय और व्यवहार : किसका आश्रय लें ?

□

चाहे तत्वज्ञान का क्षेत्र हो या आचरण का, बौद्धिक विश्लेषण हमारे सामने यथार्थता या सत्य के दो पहलू उपस्थित कर देता है, एक वह जैसा कि हमें दिखाई पड़ता है और दूसरा वह जो इस दिखाई पड़ने वाले के पीछे है; एक वह जो प्रतीत होता है, दूसरा वह जो इस प्रतीती के आधार में है। हमारी बुद्धि स्वयं कभी भी इस बात से सन्तुष्ट नहीं होती है कि जो कुछ प्रतीती है वही उसी रूप में सत्य है। वरन् वह स्वयं ही उस प्रतीती के पीछे झाँकना चाहती है। वह वस्तुतत्व के इन्द्रियगम्य स्थूल स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं होकर उसके सूक्ष्म स्वरूप तक जाना चाहती है। दूसरे शब्दों में दृश्य से ही सन्तुष्ट नहीं होकर उसकी तह तक प्रवेश पाना यह मानवीय बुद्धि की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। जब वह अपने इस प्रयास में वस्तुतत्व के प्रतीत होने वाले स्वरूप और उस प्रतीती के पीछे रहे हुए स्वरूप में अन्तर पाती है तो स्वयं ही स्वतःप्रसूत इस द्विविधा में उलझ जाती है कि इनमें से यथार्थ कौन है ? प्रतीती का स्वरूप या प्रतीती के पीछे रहा हुआ स्वरूप ?

व्यवहार और परमार्थ दृष्टिकोण की स्वीकृति आवश्यक क्यों ?

तत्वज्ञान की दृष्टि से सत् के स्वरूप को लेकर प्रमुखतः दो दृष्टियाँ मानी गई हैं, एक तत्ववाद और २. अनेक तत्ववाद।[१] एक तत्ववादी व्यवस्था में परमतत्व एक या अद्वय माना जाता है। यदि परम तत्व एक है तो प्रश्न उठता है यह नानारूप जगत कहाँ से आया ? यदि अनेकता यथार्थ है तो वह एक अनेक रूप में क्यों और कैसे हो गया ? यदि एकत्व ही यथार्थ है तो इस प्रतीती के विषय में नानारूपात्मक जगत की क्या व्याख्या ? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समुचित उत्तर एकतत्ववाद नहीं दे सकता। इसी प्रकार द्वितत्ववादी या अनेक तत्ववादी दार्शनिक मान्यताएँ उन दो या अनेक तत्वों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट करने में असफल हो जाती हैं। क्योंकि सत्ताओं को एक दूसरे से स्वतन्त्र मानकर उनमें पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। अद्वैतवाद या एकतत्ववाद इस नानारूपात्मक जगत की व्याख्या नहीं कर सकता और द्वितत्ववाद या अनेकतत्ववाद उन दो अथवा अनेक सत्ताओं में पारस्परिक सम्बन्ध नहीं बता सकता। एक के लिए अनेकता अयथार्थ होती है, दूसरे के लिए उनका सम्बन्ध अयथार्थ होता है। लेकिन इन्द्रियानुभव से अनेकता भी यथार्थ दिखती है और सत्ताओं का पारस्परिक सम्बन्ध भी यथार्थ दिखता है, अतः इन्हें झुठलाया भी नहीं जा सकता। एकतत्ववाद या अद्वैतवाद में अनेकता की समस्या का और

---

१ यहाँ द्वितत्ववाद को भी अनेक तत्ववाद में ही समाहित मान लिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक तत्ववाद में उनके पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या का ठीक निदान नहीं मिलता। यही कारण था कि दार्शनिकों को अपनी व्याख्याओं के लिए सत्य के सम्बन्ध में दृष्टिकोणों (नयों) का अवलम्बन लेना ही पड़ा और जिन दार्शनिकों ने दृष्टिकोणों का अवलम्बन लेने से इन्कार किया वे एकांगी बनकर रह गये। इन्हें इन्द्रियजन्य संवेदनात्मक ज्ञान और तार्किक चिन्तनात्मक ज्ञान में से किसी एक को अयथार्थ कहकर त्यागना पड़ा। चार्वाक या भौतिकवादियों ने वस्तुतत्व या सत् के इन्द्रियप्रदत्त ज्ञान को ही यथार्थ समझा और बुद्धि की विधाओं या विकल्पों से प्रदत्त ज्ञान को जो इन्द्रियानुभूति पर खरा नहीं उतरता था, अयथार्थ कहा। दूसरी ओर कुछ विचारकों ने उस इन्द्रियगम्य ज्ञान को अयथार्थ कहा जो कि बौद्धिक विश्लेषण में खरा नहीं उतरता है और बुद्धि-प्रदत्त ज्ञान को ही यथार्थ माना। लेकिन यह समस्या का समाधान नहीं था। सम्भवतः इस दार्शनिक समस्या के निराकरण का प्रथम प्रयास जैन और बौद्ध आगमों में परिलक्षित होता है।

महावीर ने कहा कि न तो इन्द्रियजन्य अनुभूति ही असत्य है और न बुद्धि प्रदत्त ज्ञान ही असत्य है। एक में वस्तुतत्व या सत् का वह ज्ञान है जिस रूप में वह हमारी इन्द्रियों को परिलक्षित होता है अथवा जिस रूप में हमारी इन्द्रियाँ उसे ग्रहण कर पाती हैं, दूसरे में वस्तुतत्व या सत् का वह ज्ञान है जिस रूप में वह है। जैनागमों के अनुसार पहली लोकदृष्टि या व्यवहार नय है और दूसरी परमार्थ दृष्टि या निश्चयनय है। लोकदृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि स्थूल तत्वग्राही है, वह हमें यह बताती है कि तत्व या सत्ता को जनसाधारण किस रूप में समझता है।[1] जबकि परमार्थ दृष्टि या निश्चयनय सूक्ष्म तत्वग्राही है, वह हमें यह बताती है कि सत्ता का बुद्धिप्रदत्त वास्तविक स्वरूप क्या हैं?[2] जैसे पृथ्वी सपाट है या स्थिर है यह व्यवहारनय या लोकदृष्टि है, क्योंकि वह हमें इस रूप में प्रतीत होती है या हमारा व्यवहार ऐसा मानकर ही चलता रहता है। जबकि पृथ्वी गोल है या चलती है यह निश्चय दृष्टि है अर्थात् वह इस रूप में है। दोनों में से अयथार्थ तो किसी को कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि एक इन्द्रिय प्रतीती के रूप में सत्य है या इन्द्रियगम्य सत्य है और दूसरा बुद्धिनिष्पन्न सत्य है या बुद्धिगम्य सत्य है। यह तो सत्ता (Reality) के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं और इनमें से अयथार्थ या मिथ्या कोई भी नहीं है। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में सत्य हैं। यद्यपि दोनों में कोई भी एक, स्वतन्त्र रूप में वस्तु तत्व या सत्ता का पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं करती हैं।

वस्तुतः सत्ता या तत्व (Reality) अपने आप में ही एक पूर्णता है, अनन्तता है और अनन्त के अनन्त पक्षों का प्रगटन वाणी और भाषा के माध्यम से सम्भव नहीं हो सकता। इन्द्रियानुभूति, भाषा और वाणी सभी अनन्त के एकांश का ग्रहण कर पाती है। वही एकांश का बोध नय कहलाता है।[3] उसके अनन्त पक्षों को जिन-जिन दृष्टिकोणों से देखा जाता है वे सभी नय (Standpoints) कहे जाते हैं और इसीलिए जैन विचारकों ने कह दिया था कि जितने वचन के प्रकार अथवा भाषा के प्रारूप (कथन के ढंग) हो सकते उतने ही नय के भेद हैं।[4] लेकिन फिर भी जैन

---

१ लोकव्यवहाराऽभ्युपगमपरा नया व्यवहारनय उच्यते। व्यवह्रियते इति व्यवहारः।
—**अभिधान राजेन्द्र** पृ० १८९२।

२ निश्चिनोति तत्वमिति निश्चयः। —**अभिधान राजेन्द्र** खण्ड ४, पृ० १८६२।

३ अनन्तधर्माऽध्यासिते वस्तुन्येकांशग्राहको बोध इत्यर्थः।
—**अभिधान राजेन्द्र** खण्ड ४ पृ० १८५३।

४ 'जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति नय वाया। —**सन्मति तर्क** १३-४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचारकों ने नयों का एक द्विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। जिसमें अन्य सभी वर्गीकरण भी अन्तर्भूत है।[1]

जैनागम भगवती सूत्र में व्यवहार और निश्चय दृष्टि का प्रतिपादन बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। गौतम भगवान महावीर से पूछते हैं, भन्ते ! फाणित-प्रवाही गुड़ में कितने रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श होते हैं ? महावीर इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि गौतम ! मैं इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहारिक नय (लोकदृष्टि) की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है लेकिन निश्चय नय (वास्तविक दृष्टि) की अपेक्षा से उसमें पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते हैं। इस प्रकार वहाँ अनेक विषयों को लेकर उनका निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः यह निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि का विश्लेषण हमें यही बताता है कि सत् (Reality) न उतना ही है जितना वह हमें इन्द्रियों के माध्यम से प्रतीत होता है और न उतना ही जितना कि बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय कर पाती है।

जैनाचार्यों ने सत्य को समझने की इन दोनों विधियों का प्रयोग न केवल तत्वज्ञान के क्षेत्र में ही किया वरन् आचार दर्शन की अनेक गुत्थियों के सुलझाने में भी इनका प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आगमोक्त इन दो नयों (दृष्टिकोणों) का प्रयोग आत्मा के बन्धन-मोक्ष, कर्तृत्व-अकर्तृत्व तथा नैतिक जीवन-प्रणाली या ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से किया है और इनके आधार पर तत्वज्ञान तथा आचारदर्शन सम्बन्धी अनेक विवादास्पद प्रश्नों का समुचित निराकरण भी किया है। यही नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने निश्चय दृष्टि को भी अशुद्ध निश्चय दृष्टि और शुद्ध निश्चयदृष्टि ऐसे दो रूपों में विभाजित किया है और इस प्रकार उनके अनुसार एक व्यवहारनय दूसरा अशुद्ध निश्चयनय, तीसरा शुद्ध निश्चयनय ऐसे तीन विभाग बनाये गये। इस प्रकार सत् के निरूपण की इन दो दृष्टियों को दर्शन जगत में प्रस्तुत करने और उनके आधार पर दार्शनिक समस्याओं के निराकरण करने का प्रथम श्रेय जैनविचारणा को मिलना चाहिए। फिर भी यह जान लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन-दर्शन और वेदान्तदर्शन में सत् के स्वरूप को समझने के लिए इन शैलियों का खुलकर प्रयोग हुआ है। अजैन दर्शनों में सर्वप्रथम बौद्ध आगमों में हम दो दृष्टियों का वर्णन पाते हैं, जहाँ उन्हें नीतार्थ और नेयार्थ कहा गया है। भगवान बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में कहा है—भिक्षुओ ! ये दो तथागत पर मिथ्यारोप करते हैं, कौन से दो ? जो नेय्यार्थ-सूत्र (व्यवहारभाषा) को नीतार्थ-सूत्र (परमार्थभाषा) करके प्रगट करता है और नीतार्थ-सूत्र (परमार्थभाषा) को नेय्यार्थ-सूत्र (व्यवहारभाषा) करके प्रगट करता है।[2]

बौद्ध दर्शन की दो प्रमुख शाखाओं—विज्ञानवाद और शून्यवाद—में भी तथता या सत् के स्वरूप को समझाने के लिए दृष्टिकोणों की इन शैलियों का उपयोग हुआ है। बौद्ध विज्ञानवाद तीन दृष्टिकोणों का प्रतिपादन करता है (१) परिकल्पित (२) परतन्त्रत (३) परिनिष्पन्न। शून्य-वाद में नागार्जुन दो दृष्टिकोणों का प्रतिपादन करते हैं—१ लोकसंवृति सत्य और २ परमार्थ सत्य।[3] चन्द्रकीर्ति ने लोकसंवृति को भी मिथ्यासंवृति और तथ्यसंवृति इन दो भागों में विभाजित

---

१ निश्चयव्यवहारयोः सर्वनयान्तर्भावः। —**वही**, खण्ड ४ पृ० १८५३।

२ अंगुत्तरनिकाय, दूसरा निपात (हिन्दी अनुवाद प्रथम भाग, पृ० ६२)

३ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृति सत्यंच सत्यं च परमार्थतः॥ **—माध्यमिक वृत्ति ४९२, बोधिचर्या ३६१**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। इस प्रकार शून्यवाद में भी १. मिथ्यासंवृति, २. तथ्यसंवृति और ३. परमार्थ, यह तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। वेदान्तदर्शन में शंकर ने भी अपने पूर्ववर्तियों की इस शैली को ग्रहण किया और उन्हें १. प्रतिभासिक सत्य, २. व्यवहारिक सत्य और ३. पारमार्थिक सत्य कहा। इस प्रकार जैनागमों ने जिसे व्यवहारनय और निश्चयनय, पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय अथवा अभूतार्थ-नय और भूतार्थनय कहा उसे ही बौद्धागमों में नीतार्थ और नेयार्थ कहा गया। विज्ञानवादियों ने उन्हें परतन्त्र और परिनिष्पन्न कहा और शून्यवाद में उन्हें ही लोकसंवृति और परमार्थ नाम से बताया गया, जबकि शंकर ने उन्हें व्यवहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के नाम से अभिहित किया। न केवल भारतीय विचारकों ने अपितु अनेक पाश्चात्य विचारकों ने भी व्यवहार और परमार्थ के दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। हिरेक्लिटस, पारमेनाइडीस, साक्रेटीज, प्लेटो, अरस्तू, स्पिनोजा, कांट, हेगल और ब्रेडले ने भी किसी-न-किसी रूप में इसे माना है। भले ही उनकी मान्यताओं में नामों की भिन्नतायें ही हों, लेकिन अन्ततोगत्वा उनके विचार इन्हीं दो नयों अर्थात् व्यवहार और परमार्थ की ओर ही संकेत करते हैं।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि शंकर के प्रतिभासिक, चन्द्रकीर्ति की मिथ्यासंवृति या विज्ञानवाद के परिकल्पित दृष्टिकोणों के समरूप किसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन जैनागमों में नहीं है। यदि इनकी तुलना की जानी हो तो वह किसी सीमा तक जैन विचारणा में मिथ्यादृष्टि से की जा सकती है, यद्यपि दोनों में काफी अन्तर भी है। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द का अशुद्ध निश्चयनय व्यवहार और परमार्थ की मध्यस्थिति का द्योतक माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर जैन और जैनेतर विचारणाओं में किया जा सकता है और वह यह कि बौद्ध और वेदान्त विचारणा में व्यवहारदृष्टि या लोकसंवृति को परमार्थ की अपेक्षा निम्नस्तरीय माना गया है, जबकि जैनदर्शन के अनुसार व्यवहार और निश्चय अपने-अपने स्वस्थानों की अपेक्षा से समस्तरीय हैं। वस्तुतः उनमें कोई तुलना करना ही अनुचित है। जैनदृष्टि के अनुसार व्यवहारनय के निराकरण के लिए निश्चयनय का अवलम्बन है, किन्तु निश्चयनयावलम्बन भी कर्तव्य की इतिश्री नहीं है, उसके आश्रय से आत्मा के स्वरूप का बोध करके उसे छोड़ने पर ही तत्व साक्षात्कार सम्भव है। वस्तुतः सत्ता का परमस्वरूप विचार का विषय नहीं है। वह तो विशुद्ध अनुभूति का विषय है। वह तत्वदर्शन है, तत्वज्ञान नहीं है। यदि वह ज्ञान कहा जा सकता है तो तत्वदर्शन या विशुद्ध अनुभूति आत्मा पर जो कुछ अपने चिह्न बनाती है, वही ज्ञान है। ज्ञान अपनी पूर्णता में दर्शन या अनुभूति से पूर्ण तादात्म्य कर लेता है, उसमें कोई संश्लेषण या विश्लेषण नहीं होता, कोई विकल्प नहीं होता है। सत् की यथार्थ उपलब्धि विकल्पों के ऊपर उठने पर ही सम्भव है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं "तत्ववेदी दृष्टिकोण या नयपक्ष रूपी वन, जिसमें विकल्प रूपी जाल उठते हैं, को लांघकर जो अन्तर् और बाह्य सभी ओर समरस एवं एकरस है वही स्वभाव-मात्र की अनुभूति करता है। तत्ववेदी तो उठती हुई चंचल विकल्प रूपी लहरों और उन विकल्पों की लहरों से प्रवर्तन होने वाले नयों (दृष्टिकोणों) के इन्द्रजाल को तत्काल दूर कर देता है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्ता के यथार्थ बोध के लिए न केवल व्यवहार या निश्चय

---

१ स्वेच्छासमुच्छलदनल्प विकल्पजालामेवं व्यतीत्य महती नयपक्षाकक्षां।
अन्तर्बहिः समरसैकरस स्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रं।
इन्द्रजालमिदमेव मुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः॥

—समयसार टीका, कलश ९०-९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(परमार्थ) दृष्टिकोणों को जानना ही पर्याप्त है वरन् उनके भी परे जाना होता है जहाँ दृष्टिकोणों के समस्त विकल्प शून्य हो जाते हैं। जैन विचारणा के उपरोक्त दृष्टिकोण का समर्थन हमें बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में भी मिलता है। बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में पाया जाने वाला यह विचारसाम्य तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है।

बौद्ध शून्यवादी-परम्परा के प्रखर दार्शनिक आचार्य नागार्जुन, आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के साथ समस्वर हो कह उठते हैं[1]—भगवान बुद्ध ने समस्त दृष्टियों की शून्यता (नयपक्षकक्ष रहितता) का उपदेश दिया है, जिसकी शून्य ही दृष्टि है ऐसा साधक ही परमतत्व का साक्षात्कार करता है।

आगे परमतत्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—वह परम तत्व न शून्य है, न अशून्य है, न दोनों है और न दोनों नहीं है। शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक तो परम तत्व को शून्य और अशून्य आदि किसी भी संज्ञा से अभिहित करना उचित नहीं समझते, क्योंकि परम तत्व को शून्य-अशून्य, आदि किसी संज्ञा से अभिहित करना उसे बुद्धि की कल्पना के भीतर लाना है। परम तत्व तो विचार की विधाओं से परे है, चतुष्कोटी विनिर्मुक्त है, विकल्पों के जाल से परे है।

गीता भी कहती है 'परम तत्व के बोध के लिए विकल्पों के जनक मन को आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तन या विकल्प नहीं करना चाहिए। जिस साधक के मन में विकल्पों का यह ज्वार शांत हो चुका है और जिसके मन की समस्त चंचलता समाप्त हो गई है, वही योगी ब्रह्मभूत, निष्पाप और उत्तम सुख से युक्त होता।[2]

व्यवहार और परमार्थ की आचारदर्शन के लिए आवश्यकता

इस प्रकार आचार दर्शन अपने आदर्श के रूप में जिस सत्ता के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि चाहता है वह दृष्टिकोणों या नयों के द्वारा प्राप्त नहीं होती लेकिन नयपक्षों या दृष्टिकोणों से प्रत्युत्पन्न विकल्पों के समस्त जाल के विलय होने पर शुद्ध निर्विकल्प समाधि की अवस्था में प्राप्त होता है। यही निर्विकल्प समाधि की अवस्था ही जैन, बौद्ध और वेदान्त के आचारदर्शन का चरम लक्ष्य है, जिसमें सत् साक्षात्कार हो जाता है। लेकिन सम्भवतः यहाँ विद्वत्वर्ग यह विचार करेगा कि यदि साधना का लक्ष्य ही नयपक्षों या विकल्पों से ऊपर उठना है, तो फिर आचारदर्शन या तत्वज्ञान के क्षेत्र में नयपक्षों या तत्वदृष्टियों के निरूपण की क्या आवश्यकता है? लेकिन इस प्रश्न का समुचित उत्तर जैन आचार्य कुन्दकुन्द और बौद्ध शून्यवादी दार्शनिक नागार्जुन बहुत पहले दे गये हैं।

यद्यपि साधना की पूर्णता या यथार्थ की उपलब्धि विकल्पों से अथवा नयपक्षों से ऊपर उठने में ही है लेकिन यह ऊपर उठना उनके ही सहारे सम्भव होता है, व्यवहार के सहारे परमार्थ को जाना जाता है और उस परमार्थ के सहारे उस निर्विकल्प सत्ता का बोध होता है। आचार्य

---

१ शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तान् साध्यान् बभाषिरे॥ **—माध्या० १३.८**
शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञात्यर्थं न तु कथ्यते। **—माध्या० २२.२१**

२ आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्। **—गीता ६।२५ उत्तरार्ध**
प्रशान्त मनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्त रजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ **—गीता ६।२७**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द कहते हैं कि जिस प्रकार किसी अनार्य जन को उसकी अनार्य भाषा के अभाव में वस्तु-स्वरूप समझाने में कोई भी आर्यजन सफल नहीं होता, उसे यथार्थ का ज्ञान कराने के लिए उसी की भाषा का अवलम्बन लेना होता है, इसी प्रकार व्यवहार दृष्टि के अभाव में व्यवहार जगत में रहने वाले प्राणियों को परमार्थ का बोध नहीं कराया जा सकता ।[१]

आचार्य कुन्दकुन्द के ही उपरोक्त रूपक को ही लगभग समान शब्दों में ही शून्यवादी बौद्ध आचार्य नागार्जुन भी प्रस्तुत करते हैं ।[२] यही नहीं, समकालीन भारतीय विचारकों में प्रो० हरियन्ना तथा पाश्चात्य विचारक ब्रेडले भी परमार्थ (Reality) के ज्ञान लिए आभास (व्यवहार Apearances) की उपादेयता को स्वीकार करते हैं किन्तु विस्तारभय से उनके विस्तृत विचारों को यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं । वास्तविकता यह है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का बोध नहीं हो सकता और परमार्थ या निश्चयदृष्टि का बोध हुए विना निर्वाण रूपी नैतिक आदर्श की उपलब्धि नहीं हो सकती । अतः पक्षातिक्रान्त नैतिक आदर्श निर्वाण तत्व-साक्षात्कार आत्म-साक्षात्कार के लिए परमार्थ और व्यवहार दोनों को जानना आवश्यक है, मात्र यही नहीं, दोनों को जानकर छोड़ देना भी आवश्यक हैं ।

तत्वज्ञान और आचारदर्शन के क्षेत्र में व्यवहार और परमार्थ का अन्तर

जैन परम्परा में व्यवहार और निश्चय नामक जिन दो दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है, वे तत्वज्ञान और आचारदर्शन, दोनों क्षेत्रों के लिए स्वीकार की गई हैं, फिर भी आचारदर्शन और तत्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय (परमार्थ) और व्यवहार दृष्टि का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है ।

पं० सुखलाल जी इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्वज्ञान और आचारदर्शन दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं । इधर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी तत्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है । जब निश्चय, व्यवहार नय का प्रयोग तत्वज्ञान और आचार दोनों में होता है तब सामान्य रूप से शास्त्रचिन्तन करने वाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्वज्ञान के क्षेत्र में किया जाने वाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र में किये जाने वाले प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है । तत्वज्ञान की निश्चयदृष्टि आचारविषयक निश्चय-दृष्टि दोनों एक नहीं हैं । इसी तरह उभय विषयक व्यवहारदृष्टि के बारे में भी समझना चाहिए । मैं इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहारनय यह दो शब्द भले ही समान हों फिर भी तत्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं और हमें विभिन्न परिणामों पर पहुँचाते हैं ।[३]

---

१ जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥
(यथा नापि शक्यो नार्या नार्यभाषां बिना ग्राहयितुम ।
तथा व्यवहारेण बिना परमार्थोपदेशनमशक्यम्) —**समयसार**—८

२ नान्यया भाषया म्लेच्छ शक्यो ग्राहीयेतुं यथा ।
न लोकिकमुते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥
व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ।

३ दर्शन और चिन्तन पृ०—५००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह देखने के पहले कि इन दोनों में यह विभिन्नता किस रूप में है, हमें यह भी देख लेना होगा कि इस विभिन्नता का मूल कारण क्या है? वस्तुतः आचरण का सारा क्षेत्र ही व्यवहार का क्षेत्र है। तत्वज्ञान की नैश्चयिक (पारमार्थिक) दृष्टि से तो सारी नैतिकता ही एक व्यावहारिक संकल्पना है, यदि विशुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से बन्धन और मुक्ति भी व्यावहारिक सत्य ही ठहरते हैं तो फिर आत्मा को बन्धन में मानकर उसकी मुक्ति के निमित्त किया जाने वाला सारा नैतिक आचरण भी व्यवहार के क्षेत्र में ही सम्भव है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव कर्म से बद्ध है तथा जीव कर्म उसका स्पर्श करता है यह व्यवहारनय का वचन है, जीव कर्म से अबद्ध है अर्थात् न बंधता है और न स्पर्श करता है। यह निश्चय (शुद्ध) नय का कथन है। अर्थात् आत्मा का बंधन और मुक्ति यह व्यवहारसत्य है। परमार्थ-सत्य की दृष्टि से न तो बंधन है और न मुक्ति। क्योंकि बंधन और मुक्ति सापेक्ष पद ही है। यदि बंधन नहीं तो मुक्ति भी नहीं। आगे आचार्य स्वयं कहते हैं कि आत्मा का बंधन और अबंधन यह दोनों ही दृष्टि सापेक्ष हैं, नय पक्ष हैं, परम तत्त्व समयसार (आत्मा) तो पक्षातिक्रांत है, निर्विकल्प है[1]। इस प्रकार समस्त नैतिक आचरण व्यवहार के क्षेत्र में होता है यद्यपि नैतिक जीवन का आदर्श इन समस्त दृष्टियों से परे निर्विकल्पावस्था में स्थित है—अतः आचार के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि का प्रतिपादन नैतिकता के आदर्श निर्विकल्पावस्था या वीतरागदशा जिसे प्रसंगांतर से मोक्ष भी कहा जाता है कि अपेक्षा से ही हुआ है, जबकि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि का आधार भिन्न है। तत्वज्ञान का काम मात्र व्याख्याओं का प्रस्तुतीकरण है जबकि आचार दर्शन का काम यथार्थता की उपलब्धि करा देना है।

तत्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार[2]

तत्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि का काम सत्ता के उस यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करना होता है जो देशकाल आदि से निरपेक्ष है। निश्चयदृष्टि सत्ता के उस यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करती है जो सत्ता की स्वभाव दशा है, उसका मूल स्वरूप है या स्व-लक्षण है, जो किसी देश-कालगत परिवर्तन में भी उसके सार के रूप में बना रहता है। जैसे निश्चयदृष्टि से आत्मा ज्ञानस्वरूप है, साक्षी है, अकर्ता है। निश्चयदृष्टि द्रव्यदृष्टि है जो सता के मूलतत्त्व की ओर ही अपनी निगाह जमाती है और उसकी पर्यायों पर ध्यान नहीं देती है। निश्चयदृष्टि से स्वर्णाभूषणों में निहित स्वर्णतत्व ही मूल वस्तु है, फिर चाहे वह स्वर्ण कंकण हो या मुद्रिका हो। निश्चयदृष्टि से दोनों में अभेद ही है, दूसरे शब्दों में निश्चयनय अभेद गामी है। निश्चय दृष्टि, द्रव्य दृष्टि या इस अभेदगामी दृष्टि से आत्मा चैतन्य ही है, अन्य कुछ नहीं। न वह जन्म लेता है, न मरता है, न वह बद्ध है, न वह मुक्त है, न वह स्त्री है, न वह पुरुष है, न वह मनुष्य है, न पशु है, न देव है, न नारक है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि सत्ता के उस पक्ष का प्रतिपादन करती है जिस रूप में वह प्रतीत होती है, वह सत्ता के आगन्तुक लक्षणों को प्रगट करती है जो स्थायी नहीं है

---

१ जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धं हवइ कम्मं॥
कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाणपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥

—**समयसार**—१४१। १४२ (संस्कृत टीकावाली प्रति से)

२ अथ पुनर्बहुव्यक्तेरनेक विशेषस्याभेदता भेदराहित्यं तदपि निश्चयविषयम्, द्रव्यस्य पदार्थस्य यन्नैर्मल्यं तदपि निश्चय विषयम्, नैर्मल्यं तु विमलपरिणतिः बाह्यनिरपेक्ष परिणामः सोऽपि निश्चयानयाऽर्थो बोद्धव्यः। —**अभि० रा०** ४। २०५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरन् किसी देशकाल में उससे संयोजित हुए हैं और किसी देशकाल में अलग हो जाने वाले है। सत्ता के उस परिवर्तनशील पक्ष का प्रस्तुतीकरण व्यवहारनय का विषय है जो क्षणिक है, देश एवं काल सापेक्ष है। सत्ता की विभाव दशा का विवेचन करना अथवा उसके इन्द्रियग्राह्य स्वरूप का विवेचन करना व्यवहार नय का सीमा क्षेत्र है। जैसे आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, बद्ध है, ज्ञान-दर्शन की दृष्टि से सीमित है। व्यवहार के दृष्टि के अनुसार आत्मा जन्म भी लेता है और मरता भी है, वह बन्धन में भी आता है और मुक्त भी होता है, वह बालक भी बनता है और वृद्ध भी होता हैं।

आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार का तत्वज्ञान के क्षेत्र से अन्तर

महाप्राज्ञ पं० सुखलाल जी ने आचारलक्षी निश्चय और व्यवहार का निरूपण तत्वलक्षीय निश्चय (परमार्थ) और व्यवहार के निरूपण से किस प्रकार भिन्न है, इसे निम्न आधारों पर स्पष्ट किया है—

(१) आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहरिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से विचार करती है जबकि तत्वनिरूपक निश्चय और व्यवहारिक दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष में रखकर ही प्रवृत्त होती है। यदि इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया जावे तो हम कह सकते हैं कि तत्त्व निरूपण की दृष्टि में 'क्या है' यह महत्त्वपूर्ण है जबकि आचारनिरूपण में क्या होना चाहिए यह महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः तत्वज्ञान की विधायक (Positive) या व्याख्यात्मक प्रकृति ही तथा आदर्श दर्शन की नियामक (Normative) या आदर्श मूलक प्रकृति ही इनमें यह अन्तर बना देती है। तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि यह बताती है कि सत्ता का मूल स्वरूप क्या है? उसका सार क्या है? और व्यवहार दृष्टि यह बताती है सत्ता किस रूप में प्रतीत हो रही है? उसका इन्द्रिय-ग्राह्य स्थूल स्वरूप क्या है? उसका आकार क्या है? जबकि आचारदर्शन के क्षेत्र में निश्चय-दृष्टि कर्ता के प्रयोजन अथवा कर्म की आदर्शोन्मुखता के आधार पर उसकी शुभाशुभता का मूल्यांकन करती है। निश्चयनय में आचार का बाह्य स्वरूप महत्वपूर्ण नहीं होता वरन उसका आन्तर स्वरूप ही महत्वपूर्ण होता है। इसके विपरीत आचार के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि के अनुसार समाचरण के बाह्य पक्ष पर अधिक विचार किया जाता है।

(२) आचार दर्शन और तत्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार नय के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि तत्वज्ञान के क्षेत्र में नैश्चयिक दृष्टि-सम्मत तत्वों का स्वरूप हम सभी साधारण जिज्ञासु कभी भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाते, हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं, जिसने तत्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। जबकि आचार के बारे में ऐसा नहीं है कोई जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत-असत् वृतियों को व उनकी तीव्रता और मन्दता के तारतम्य का सीधा प्रत्यक्ष कर सकता है।

संक्षेप में नैश्चयिक आचार का प्रत्यक्ष व्यक्ति स्वयं के लिए सम्भव है जबकि नैश्चयिक तत्व का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। हमारी सत्-असत् आन्तरिक वृत्तियों का हमें सीधा प्रत्यक्ष होता है, वे हमारी आन्तरिक अनुभूति का विषय हैं जबकि तत्व के निश्चय स्वरूप का सीधा प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं होता है, वह तो मात्र बुद्धि की खोज है। तत्वज्ञान के क्षेत्र में पर्यायों से पृथक् शुद्ध वस्तु तत्व की उपलब्धि साधारण रूप में सम्भव नहीं होती है जबकि आचार के क्षेत्र में समाचरण से पृथक् आन्तरिक वृत्तियों का हमें अनुभव होता है।

(३) तत्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चय दृष्टि आत्मा के बन्धन, मुक्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रत्ययों को महत्व नहीं देती है, वे उसके लिए गौण होते हैं क्योंकि वे आत्मा की पर्याय दशा को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही सूचित करते हैं। जबकि आचारलक्षी निश्चयदृष्टि में तो बन्धन और मुक्ति आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व ऐसी मौलिक धारणाएं हैं जिसे वह स्वीकार करके ही आगे बढ़ती है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द एवं अन्य जैनाचार्यों ने निश्चय में दो भेद स्वीकार किए। आचार्य कुन्दकुन्द तत्वज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले निश्चयनय (परमार्थदृष्टि) को शुद्ध निश्चयनय कहते हैं जबकि आचारलक्षी निश्चयदृष्टि को अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के द्रव्यार्थिक निश्चयनय और पर्यायार्थिक निश्चयनय ऐसे दो विभाग किये हैं। इसमें द्रव्यार्थिक निश्चयनय तत्वदर्शन के क्षेत्र में उपयोग की जाने वाली निश्चयदृष्टि है जबकि पर्यायार्थिक निश्चयनय आचार दर्शन के क्षेत्र में उपयोग की जाने वाली निश्चयदृष्टि है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की दृष्टि से नैतिकता का विचार

इसी तथ्य को जैन विचारणा के अनुसार एक दूसरी प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। जैनागमों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो दृष्टिकोण या नय भी स्वीकार किए गए हैं। सांख्यदर्शन परिणामवाद को मानता है लेकिन वह केवल प्रकृति की दृष्टि से जबकि जैनदर्शन जड़ और चेतन उभय परम तत्वों की दृष्टि से परिणामवाद मानता है। सत् का एक पक्ष वह है जिसमें वह प्रतिक्षण बदलता रहता है जबकि दूसरा पक्ष वह है जो इन परिवर्तनों के पीछे है। जैनदर्शन उस अपरिवर्तनशील शाश्वत पक्ष को अपनी पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लेता है लेकिन नैतिकता की सारी सम्भावना एवं सारी विवेचना तो इस परिवर्तनशील पक्ष के लिए है—नैतिकता एक गत्यात्मकता है, एक प्रक्रिया है, एक होना है (Becoming) जो परिवर्तन की दशा में ही सम्भव है। उस अपरिवर्तनीय पक्ष की दृष्टि से जो मात्र (Being) है, कोई नैतिक विचारणा सम्भव ही नहीं। जैन विचारणा यह भी नहीं कहती है कि हमारा नैतिक आदर्श परिवर्तनशीलता (becoming) से अपरिवर्तनशीलता (being) की अवस्था को प्राप्त करना है क्यों कि यदि सत् स्वयं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यगुण युक्त है तो फिर मोक्ष अवस्था में यह गुण रहेंगे। जैन विचारणा मोक्षावस्था में आत्मा का परिणामीपन स्वीकार करती है। जैन विचारणा के अनुसार परिवर्तन या पर्याय (Mode) दो प्रकार के होते हैं—एक स्वभाव पर्याय या सरूप-परिवर्तन (Homogenous changes) और दूसरे विभावपर्याय या विरूप-परिवर्तन (Hetrogenous changes) होते हैं। जैन नैतिकता का आदर्श मात्र आत्मा को विभाव पर्याय की अवस्था से स्वभाव पर्याय अवस्था में लाना है।

इस प्रकार जैन नैतिकता सत् के द्रव्यार्थिक पक्ष को अपनी विवेचना का विषय न बनाकर सत् के पर्यायार्थिक पक्ष को ही अपनी विवेचना का विषय बनाती है। जिसमें स्वभाव पर्यायावस्था को प्राप्त करना ही उसका नैतिक आदर्श है। स्वभावपर्याय या सरूप-परिवर्तन वे अवस्थाएं हैं जो वस्तु तत्व के निज गुणों के कारण होते हैं एवं अन्य तत्व से निरपेक्ष होते हैं।[1] इसके विपरीत अन्य तत्व से सापेक्ष परिवर्तन-अवस्थाएं विभावपर्याय होती हैं। अतः नैतिकता के प्रत्यय की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आत्मा का स्व स्वभाव दशा में रहना यह नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप है। इसे ही आचारलक्षी निश्चयनय कहा जा सकता है क्योंकि जैनदृष्टि से सारे नैतिक समाचरण का सार या साध्य यही है, जिसे किसी अन्य का साधन नहीं माना जा सकता। यही स्वलक्ष्य मूल्य (end in itself) है। शेष सारा समाचरण इसी के लिये है, अतः साधन रूप है, सापेक्ष है और साधन रूप होने के कारण मात्र व्यवहारिक नैतिकता है।

---

१ अण्ण निरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
(अन्य निरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः) —**नियमसार २८**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि का अर्थ

आचार के क्षेत्र में निश्चयनय का अर्थ

जैन आचार दर्शन का नैतिक आदर्श मोक्ष है, अतएव जो आचार सीधे रूप में मोक्ष लक्षी है वह नैश्चयिक आचार है। अर्थात् समाचरण का वह पक्ष। जिसका सीधा सम्बन्ध हमारे बन्धन और मुक्ति से है, नैश्चयिक आचार है, वस्तुतः बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण समाचरण का बाह्य स्वरूप नहीं होता वरन् व्यक्ति की आभ्यन्तर मनोवृत्तियां ही होती हैं अतः वे चैतसिक तत्व या आभ्यन्तर मनोवृत्तियां जो हमारे बन्धन और मुक्ति का सीधा कारण बनती हैं आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चय नय या परमार्थ दृष्टि के सीमा क्षेत्र में आती हैं। मिथ्यात्व और कषाय अथवा राग, द्वेष और मोह की त्रिपुटी का सम्बन्ध हमारे नैश्चयिक आचार से है। संक्षेप में समाचरण का आन्तर् पक्ष आचारलक्षी निश्चयनय का सीमा क्षेत्र है। नैतिक निर्णयों की वह दृष्टि जो बाह्य समाचारण या क्रियाकलापों से निरपेक्ष मात्र कर्ता के प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर शुभाशुभता विचार करती है, निश्चय दृष्टि है।[1] आचारदर्शन के क्षेत्र में भी नैश्चयिक आचार सदैव ही एक होता है। नैश्चयिक दृष्टि से जो शुभ है वह सदैव ही शुभ है, जो अशुभ है वह सदैव अशुभ है। देश, काल एवं व्यक्तिक भिन्नताओं में भी उसमें विभिन्नताएँ नहीं होती हैं। वैचारिक या मनोजन्य अध्यवसायों का शुभत्व और अशुभत्व देश-कालगत भेदों से नहीं बदलता, उसमें अपवाद के लिये कोई स्थान नहीं होता है। व्यवहारिक नैतिकता में या समाचरण के बाह्य भेदों में भी उसकी एकरूपता बनी रह सकती है। पं० सुखलालजी के शब्दों में नैश्चयिक आचार की (एक ही) भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्यवहारिक आचारों में से गुजरता है।[2] यही नहीं, इसके विपरीत समाचरण की बाह्य एकरूपता में भी नैश्चयिक दृष्टि आचार की भिन्नता हो सकती है। वस्तुतः आचार दर्शन के क्षेत्र में नैश्चयिक आचार वह केन्द्र है जिसके आधार से व्यवहारिक आचार के वृत्त बनते हैं। एक केन्द्र से खीचे गये अनेक वृत्त बाह्य रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हुए भी अपने केन्द्र की दृष्टि से एक ही रूप माने जाते हैं, उनमें परिधिगत विभिन्नता होते हुए भी केन्द्रगत एकता होती है। जैनदृष्टि के अनुसार निश्चय आचार सारे बाह्य आचरण का केन्द्र होता है, सार होता है।[3]

आचार दर्शन के क्षेत्र में निश्चय और व्यवहार के सही मूल्यांकन के लिये हम एक दूसरी दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। आचार दर्शन में निश्चय दृष्टि या परमार्थ दृष्टि नैतिक समाचरण का मूल्यांकन उसके आन्तर् पक्ष, प्रयोजन या उसकी लक्ष्योन्मुखता के आधार पर करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक वैयक्तिक दृष्टि से ही जो व्यक्ति के समाचरण का मूल्यांकन उसके लक्ष्य की दृष्टि से करती है। जैनदर्शन के अनुसार नैश्चयिक नैतिकता नैतिक समाचरण के संकलपात्मक पक्ष का अध्ययन करती है लेकिन नैतिकता मात्र संकल्प ही नहीं है। नैतिक जीवन के लिए संकल्प अत्यन्त आवश्यक, अनिवार्य तत्व है लेकिन मात्र ऐसा संकल्प जिसमें समाचरण (Performance) का प्रयास न हो, सच्चा संकल्प नहीं होता। इसलिए नैतिक जीवन के लिए संकल्प को मात्र संकल्प नहीं रहना चाहिए वरन् कार्य रूप में परिणत भी होना चाहिए और यही संकल्प की

---

१ बाह्य निरपेक्षपरिणामः (जैन विचारणा में परिणाम शब्द मन-दशाओं का सूचक होता है)
—अभिधानराजेन्द्र. खण्ड ४, पृ०—२०५६

२ दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ०—४६६

३ बाह्यस्य आभ्यन्तरत्वं—**अभिधान राजेन्द्र.** खण्ड ४ पृ०—२०५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य रूप में परिणति नैतिकता का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करती है। मात्र संकल्प तो व्यक्ति तक सीमित हो सकता है, उसका समाज पर कोई प्रभाव नहीं होता, वह समाज निरपेक्ष हो सकता है, लेकिन संकल्प को जब कार्य रूप में परिणत किया जाता है, तो वह मात्र वैयक्तिक नहीं रहता है वरन् सामाजिक बन जाता है। अतः नैतिकता का विचार केवल नैश्चयिक या पारमार्थिक दृष्टि पर ही नहीं किया जा सकता है। ऐसा नैतिक मूल्यांकन मात्र आंशिक होगा, अपूर्ण होगा। अतः नैतिकता के समुचित मूल्यांकन के लिए नैतिकता में बाह्य या सामाजिक पक्ष पर भी विचार करना होगा, लेकिन यह सीमा क्षेत्र आचारलक्षी निश्चय नय का नहीं वरन् व्यवहार नय का है।

आचार के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि

नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि वह है जो समाचरण के बाह्य पक्ष पर बल देती है। उसमें एकरूपता नहीं विविधता होती है। डा० सुखलाल जी संघवी के शब्दों में "···· व्यवहारिक आचार ऐसा एक रूप नहीं। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न-भिन्न देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले आचार व्यवहारिक आचार की कोटि में गिने जाते हैं।"[१] व्यवहारिक आचार देश, काल एवं व्यक्ति सापेक्ष होता है, उसका स्वरूप परिवर्तनशील होता है। वह तो उन परिधियों के समान है जो समकेन्द्रक होते हुए देश (space) में अलग होती है। आचार दर्शन के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि कर्ता के प्रयोजन को गौण कर कर्मपरिणामों का लोकदृष्टि से विचार करती है।[२] वह यह बताती है कि देशकालगत नैतिकता क्या है। किस देश और किस काल में समाचरण के नियमों का बाह्य स्वरूप क्या होगा? इसका निश्चय नैतिकता की व्यवहार दृष्टि करती है। वह देश, काल एवं नैयक्तिक परिस्थितियों के आधार पर नैतिक समाचरण के बाह्य स्वरूप का निर्धारण करती है।[३] जहाँ तक समाचरण के शुभत्व और अशुभत्व के मूल्यांकन करने का प्रश्न है आचरण के आभ्यन्तर पक्ष या कर्ता के प्रयोजन के आधार पर उनके शुभत्व और अशुभत्व का मूल्यांकन नैतिकता की निश्चय दृष्टि करती है जबकि आचरण के बाह्य पक्ष या उसके फल के आधार उनके शुभत्व और अशुभत्व का निश्चय नैतिकता की व्यवहार दृष्टि करती है। जैन विचारणा के अनुसार कर्मों के इस द्विविध मूल्यांकन में ही उसका समुचित मूल्यांकन सम्भव होता है, यद्यपि यह भी सम्भव है कि कोई कर्म निश्चय दृष्टि से शुद्ध या नैतिक होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से अशुद्ध या अनैतिक हो सकता है। जैसे—साधु का वह व्यवहार जो शुद्ध मनोभाव और आगमिक आज्ञाओं के अनुकूल होते हुए भी यदि लोकनिन्दा या लोकघृणा का कारण है तो वह निश्चयदृष्टि से शुद्ध होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से अशुद्ध है। इसी प्रकार कोई कर्म या समाचरण का रूप व्यवहारदृष्टि से शुद्ध या नैतिक प्रतीत होते हुए भी निश्चयदृष्टि से अशुभ या अनैतिक हो सकता है। जैसे फलाकांक्षा से किया हुआ तप अथवा परोपकार, यह व्यवहार दृष्टि से शुभ होते हुए भी निश्चय दृष्टि से अशुभ है। जैन आचार दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है कि नैतिक समाचरण में मात्र आन्तर्पक्ष या कर्ता का विशुद्ध प्रयोजन ही पर्याप्त नहीं है, लोक-व्यवहार की दृष्टि से बाह्य आचरण भी आवश्यक है। यही नहीं, ऐसा साधक जिसने नैतिक आदर्श की उपलब्धि कर ली है उसे भी लोक-व्यवहार की दृष्टि का आचरण करना आवश्यक है।

---

१ दर्शन और चिन्तन, भाग २ पृ०—४९६

२ व्यवहारा जनोदितम् (लोकाभिमतमेव व्यवहारः) **अभिधान राजेन्द्र** खण्ड ४ पृ०—२०५६

३ क्षेत्रं कालं च प्राप्ययो यथा सम्भवति तेन तथा व्यवहारणीयम्—**अभिधान राजेन्द्र** खण्ड ४ —पृ० १०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय नैतिकता का स्वरूप

नैतिकता के नैश्चयिक या पारमार्थिक स्वरूप की चर्चा करने के पूर्व पुनः यह बता देना आवश्यक है कि प्रथमतः विशुद्ध द्रव्यार्थिकनय या शुद्ध निश्चय जो कि तत्वमीमांसा की एक विधि है, जब नैतिकता के क्षेत्र में प्रयुक्त की जाती है तो वह दो बातें प्रस्तुत करती है—

१—नैतिक आदर्श या साध्य का शुद्ध स्वरूप,

२—नैतिकता साध्य का नैतिक साधना से अभेद।

हमें इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट रहना चाहिए कि नैतिक साध्य वह स्थिति है कि जहाँ आकर नैतिकता स्वयं समाप्त हो जाती है क्योंकि उसके आगे कोई पाना नहीं है, कोई चाहिए नहीं है और इसलिए कोई नैतिकता नहीं है। क्योंकि नैतिकता के लिये 'चाहिए' या 'आदर्श' आवश्यक है अतः नैतिक साध्य उस स्थान पर स्थित है जहाँ तत्वमीमांसा और आचार दर्शन मिलते है, अतः नैतिक साध्य की व्याख्या शुद्ध निश्चयनय, विशुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से ही सम्भव है। वस्तुतः तो वह अवाच्य एवं निर्विकल्प अवस्था है।

दूसरी ओर नैतिक साध्य पूर्णता की वह स्थिति है कि जब हम उस साध्य की भूमिका पर स्थित होकर विचार करते हैं तो वहाँ साध्य, साधक और साधनापथ का अभेद हो जाता है, क्योंकि जब आदर्श उपलब्ध हो जाता तो आदर्श, आदर्श नहीं रहता और साधक, साधक नहीं रहता, न साधनापथ, साधनापथ ही रहता है। नैतिक पूर्णता की अवस्था में साधक, साध्य और साधनापथ का विभेद टिक नहीं पाता है। यदि साधक है तो उसका साध्य होगा और यदि कोई साध्य है तो फिर नैतिक पूर्णता कैसी? साध्य, साधक और साधना सापेक्षिक पद है, यदि एक है तो दूसरा है। साध्य के अभाव में न साधक, साधक होता है और न साधनापथ, साधनापथ। उस अवस्था में तो मात्र विशुद्ध सत्ता है, आत्मा है। यदि पूर्वावस्था की दृष्टि से उपचार रूप में कहना हो तो कह सकते हैं कि उस दृष्टि से साध्य भी आत्मा है, साधक भी आत्मा है और ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप साधना पथ भी आत्मा है। तीसरे आचार दर्शन में पारमार्थिक दृष्टि या आन्तरिक नैतिकता की दृष्टि आचरण की शुभाशुभता का निर्णय आचरण के बाह्य रूप से नहीं करती वरन् कर्ता के आन्तरिक प्रयोजन अथवा नैतिक साधना के आदर्श के सन्दर्भ में करती है। आचरण का दिखाई देने वाला रूप उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। आचरण के विधि-विधानों से पारमार्थिक या नैश्चयिक आचार का कोई सम्बन्ध नहीं होता है, उसका सम्बन्ध तो विशुद्ध रूप से कर्ता की आन्तरिक मनोवृत्तियों से है।

संक्षेप में नैतिकता की नैश्चयिक दृष्टि का सम्बन्ध वैयक्तिक नैतिकता (Individual Morality) है। जैन विचारणा के अनुसार कषायों (अन्तरिक वासनाओं) का सम्बन्ध इसी नैश्चयिक नैतिकता से है। मनुष्य में वासना एवं आसक्ति या तृष्णा की अग्नि जिस मात्रा में शांत होती है, उसी मात्रा में वह नैश्चयिक आचार की दृष्टि से विकास की ओर बढ़ा हुआ माना जाता है। नैश्चयिक नैतिकता में क्रिया या आचरण का महत्व नहीं, महत्व है मनोभावों का। नैश्चयिक नैतिकता क्रिया (Doing) या आचरण की अवस्था नहीं, वरन् अनुभूति या साक्षात्कार की अवस्था है। इसमें शुभाशुभत्व का माप इस आधार पर नहीं होता कि व्यक्ति क्या करता है, वरन् इस आधार पर होता है कि वह अपने परमात्मत्व को कहाँ तक पहचान पाया है। आत्मोपलब्धि (Self realization) या परम तत्व (Reality) का साक्षात्कार ही नैतिक जीवन का परमादर्श है और इस आदर्श के सन्दर्भ में मनोभावों का आकलन करना ही परमार्थिक या नैश्चयिक नैतिकता का प्रमुख कार्य है। व्यक्ति के आन्तरिक विचलन या संघर्ष को समाप्त कर विकार एवं मनोजगत में सांगसंतुलन या आन्तरिक समत्व को बनाए रखना नैश्चयिक आचारदर्शन का क्षेत्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार नैतिकता का स्वरूप

व्यवहारिक नैतिकता का सम्बन्ध आचरण के उन बाह्य विधि-विधानों से है जिनके पालन की नैतिक साधक से अपेक्षा की जाती है। समाजदृष्टि या लोकदृष्टि ही व्यवहारिक नैतिकता के शुभाशुभत्व का आधार है। व्यवहार नैतिकता कहती है कि कार्य चाहे कर्ता के प्रयोजन की दृष्टि से शुद्ध हो लेकिन यदि वह लोकविरुद्ध या जनभावना के प्रतिकूल है तो उसका आचरण नहीं करना चाहिए।[1]

वस्तुतः नैतिकता का व्यवहारदर्शन आचरण को सामाजिक सन्दर्भ में परखता है। यह आचरण शुभाशुभत्व के मापन की समाजसापेक्ष पद्धति है जो व्यक्ति के सम्मुख समाजिक नैतिकता (Social Morality) को प्रस्तुत करती है। इसका परिपालन वैयक्तिक साधना की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना समाज या संघ व्यवस्था की दृष्टि से। यही कारण है वैयक्तिक साधना की परिपूर्णता के पश्चात् भी जैन आचारदर्शन समान रूप से इसके परिपालन को आवश्यक मानता रहा है।

आचरण के सारे विधि-विधान, आचरण की समग्र विविधताएँ, व्यवहार नैतिकता का विषय हैं। व्यवहार नैतिकता क्रिया (Doing) है अतः आचरण कैसे करना इस तथ्य का निर्धारण करना व्यवहारिक नैतिकता का विषय है। गृहस्थ एवं संन्यास जीवन के सारे विधि-विधान जो व्यक्ति और समाज अथवा व्यक्ति और उसके बाह्य वातावरण के मध्य एक सांग संतुलन को बनाए रखने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, व्यवहारिक नैतिकता का क्षेत्र है।

नैतिकता के क्षेत्र में व्यवहार दृष्टि के ५ आधार

व्यवहार दृष्टि से नैतिक समाचरण एक सापेक्ष तथ्य सिद्ध होता है। उसके अनुसार देशकाल, वैयक्तिक स्वभाव, शक्ति और रुचि के आधार पर आचार के नियमों में परिवर्तन सम्भव है। यदि व्यवहारिक आचार में भिन्नता सम्भव है, तो प्रश्न होता है कि इस बात का निश्चय कैसे किया जावे कि किस देश काल एवं परिस्थिति में कैसा आचरण किया जावे? आचरण का बाह्य स्वरूप क्या हो? जैन विचारकों ने इस प्रश्न का गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि निश्चय दृष्टि से तो संकल्प (अध्यवसाय) की शुभता ही नैतिकता का आधार है लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में शुभत्व और अशुभत्व के मूल्यांकन करने, आचरण के नियमों का निर्धारण करने के पाँच आधार हैं और इन्हीं पांच आधारों पर व्यवहार के भी पाँच भेद होते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन पाँच आधारों में पूर्वापरत्व का क्रम भी है और पूर्व में आचरण के हेतु निर्देशन की उपलब्धि होते हुए भी पर (निम्न) का उपयोग करना भी अनैतिकता है।

(१) आगम-व्यवहार

किसी देश-काल एवं वैयक्तिक परिस्थिति में किसी प्रकार का आचरण करना। इसका प्रथम निर्देश हमें आगम ग्रन्थों में मिल जाता है, अतः आचरण के क्षेत्र में प्रथमतः आगमों में वर्णित नियमों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। यही आगम-व्यवहार है।

(२) श्रुत-व्यवहार

श्रुत शब्द के दो अर्थ होते हैं—१ अभिधारण और २ परम्परा। जब किसी विशेष परिस्थिति में कैसा समाचरण किया जावे, इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता हो या आगम

१ यद्यपि शुद्धं तदपि लोकविरुद्धं न समाचरेत्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुपलब्ध हो, ऐसी स्थिति में कर्तव्य क्या है ? इसका निर्णय इस सम्बन्ध में जो पूर्वाचार्यों से सुन रखा हो उसके आधार पर करना चाहिए अथवा प्राचीन समय में ऐसी विशेष परिस्थिति में कैसा व्यवहार किया गया था या परम्परा क्या थी, इसके आधार पर करना चाहिए। (परम्परायामपि विभाषा कर्तव्याः)

(३) आज्ञा-व्यवहार

किसी देश काल एवं वैयक्तिक वैभिन्य के आधार पर उत्पन्न विशेष परिस्थिति में किस प्रकार का समाचरण करना इसके सम्बन्ध में न तो आगमों में स्पष्ट निर्देशन हो, न परम्परा या पूर्वाचार्यों के अनुभव ही कुछ बता पाते हों तो ऐसी स्थिति में कर्तव्य का निश्चय अपने से वरिष्ठजनों की आज्ञा के आधार पर ही करना चाहिए। वरिष्ठजनों, गुरुजनों अथवा देशकाल आदि परिस्थितियों से विज्ञ विद्वान (गीतार्थ) की आज्ञा के अनुरूप आचरण करना आज्ञा-व्यवहार है।

(४) धारणा-व्यवहार

यदि परिस्थिति ऐसी हो कि जिसके सम्बन्ध में न तो आगमों में स्पष्ट निर्देश मिल रहा हो, न पूर्व परम्परा ही कुछ बता पाने में समर्थ हो और न निकट में कोई देश-काल विज्ञ वरिष्ठजन ही हो, न इतना समय ही हो कि किसी दूरस्थ विज्ञ एवं गुरुजन से कोई निर्देश प्राप्त किया जा सके, ऐसी स्थिति में किंकर्तव्य या कर्म शुभाशुभता का निश्चय स्व-विवेक से करना चाहिए। स्व-विवेकबुद्धि से निश्चित किए हुए कर्तव्यपथ पर आचरण करना धारणा-व्यवहार है।

(५) जीत-व्यवहार

यदि परिस्थिति ऐसी हो कि जिसमें किंकर्तव्य या कर्म की शुभाशुभता के निश्चय का उपरोक्त कोई भी साधन सुलभ न हो और स्व-बुद्धि भी कुण्ठित हो गई हो अथवा कोई निर्णय देने में असमर्थ हो वहाँ पर लोकरूढि के अनुसार आचरण करना चाहिए। यह लोकरूढि के अनुसार आचरण करना जीत-व्यवहार है।

यहाँ सम्भवतः एक आक्षेप जैन विचारणा पर किया जा सकता है, वह यह है कि, आगम, श्रुत, एवं आज्ञा के पश्चात् स्व-विवेक को स्थान देकर मानवीय बुद्धि के महत्व का समुचित अंकन नहीं किया गया है। लेकिन यह मान्यता भ्रान्त है। वस्तुतः बुद्धि के जिस रूप को निम्न स्थान दिया गया है वह बुद्धि का वह रूप है जिसमें वासना या राग-द्वेष की उपस्थिति की सम्भावना बनी हुई है। सामान्य साधक जो वासनात्मक जीवन या राग द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाया उसके स्व-विवेक के द्वारा किंकर्तव्य मीमांसा में गलत निर्णय की सम्भावना बनी रहती, बुद्धि की इस अपरिपक्व दशा में यदि स्व-निर्णय का अधिकार प्रदान कर दिया जावे तो यथार्थ कर्तव्यपथ से च्युति की सम्भवना ही अधिक होती हैं। यदि मूल शब्द धारणा को देखें तो यह अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। धारणा शब्द विवेक-बुद्धि या निष्पक्ष-बुद्धि की अपेक्षा आग्रह-बुद्धि का सूचक है और आग्रह-बुद्धि में स्वार्थपरायणता या रूढता के भाव ही प्रबल होते हैं, अतः ऐसी आग्रह बुद्धि को किंकर्तव्यमीमांसा में अधिक उच्च स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता। साथ ही यदि धारणा या स्व-विवेक को अधिक महत्व दिया जावेगा तो नैतिक प्रत्ययों की सामन्यता या वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जायेगी और नैतिकता के क्षेत्र में वैयक्तिकता का स्थान ही प्रमुख हो जावेगा। दूसरी और यदि हम देखें तो आज्ञा, श्रुत और आगम भी अबौद्धिक नहीं हैं वरन् उनमें क्रमशः बुद्धि की उज्ज्वलता या निष्पक्षता ही बढ़ती जाती है। आज्ञा देने के योग्य जिस गीतार्थ का निर्देश जैनागमों में किया गया है वह एक ओर देश, काल या परिस्थिति को यथार्थ रूप में समझता है, दूसरी ओर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम ग्रन्थों का मर्मज्ञ भी होता है। वस्तुतः वह आदर्श (आगमिक आज्ञाएँ) एवं यथार्थ (वास्तविक परिस्थितियाँ) के मध्य समन्वय कराने वाला होता है। वह यथार्थ को दृष्टिगत रखते हुए आदर्श को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उस आदर्श को यथार्थ बनाया जा सके। गीतार्थ की आज्ञा नैतिक जीवन का एक ऐसा सत्य है जिसका आदर्श सदैव यथार्थ बनने की क्षमता रखता है। सरल शब्दों में कहें तो गीतार्थ की आज्ञाओं का पालन सदैव ही सम्भव होता है क्योंकि वे देश, काल एवं व्यक्ति की परिस्थिति को ध्यान में रख कर दी जाती हैं। श्रुत एवं आगम-परम्परा के उज्ज्वलतम आदर्शों को तथा उच्च एवं निष्पक्ष बुद्धिसम्पन्न महापुरुषों के निर्देशों को साधक के सामने प्रस्तुत करते हैं, जिनकी बौद्धिकता का महत्व सामान्य साधक की अपेक्षा सदैव ही अधिक होता है।

आचारदर्शन के क्षेत्र में नैश्चयिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोणों की तुलना एवं समालोचना

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर तत्वज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त नैश्चयिक दृष्टि (पारमार्थिक दृष्टि) की अपेक्षा आचारलक्षी नैश्चयिक दृष्टि की यह विशेषता है कि जहाँ तत्वज्ञान के क्षेत्र में नैश्चयिक दृष्टि प्रतिपादित सत्ता (परम तत्व) का स्वरूप विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न है वहां आचारलक्षी नैश्चयिक दृष्टि से प्रतिपादित निश्चय आचार (पारमार्थिक नैतिकता) सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में एक रूप ही है। आचरण के नियमों का बाह्यपक्ष या आचरण की शैली भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका आन्तर् पक्ष या लक्ष्य सभी दर्शनों में समान है। विभिन्न मोक्षलक्षी दर्शनों से नैतिक आदर्श, मोक्ष का स्वरूप, तत्वदृष्टि भिन्न होते हुए भी लक्ष्य दृष्टि से एक ही है और इसी हेतुकी एकरूपता के कारण आचरण का नैश्चयिक स्वरूप भी एक ही है। पं० सुखलाल जी लिखते हैं 'यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों में निश्चयदृष्टि-सम्मत तत्वनिरूपण एक नहीं है तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चयदृष्टि-सम्मत आचार व चरित्र एक ही है, भले ही परिभाषा या वर्गीकरण आदि भिन्न हो।'[1]

जहाँ तक जैन और बौद्ध आचारदर्शन की तुलना का प्रश्न है, दोनों ही काफी निकट हैं। बौद्धदर्शन भी मोक्षलक्षी दर्शन है, वह समस्त नैतिक समाचरण का मूल्यांकन उसी के आधार पर करता है। उसकी नैतिक विवेचना का सार चार आर्य सत्यों की धारणा में समाया हुआ है। उसके अनुसार दुःख है, दुःख का कारण (दुःख समुदय) है, दुःख के कारण का निराकरण सम्भव है और दुःख के कारण के निराकरण का मार्ग है। बौद्धदर्शन के इन चार आर्य सत्यों को दूसरे शब्दों में कहे तो बंधन (दुःख) और बंधन (दुःख) का कारण और बन्धन से विमुक्ति (मोक्ष) और बन्धन से विमुक्ति का मार्ग इन्हीं चार बातों को जैन नैतिकता में क्रमशः बंध, आश्रव, मोक्ष और संवर-निर्जरा कहा गया है। जैन विचारणा का बंध बौद्ध विचारणा का दुःख है, आश्रव उस दुःख का कारण है, मोक्ष दुःख विमुक्ति है और संवर-निर्जरा दुःख-विमुक्ति का मार्ग है।

निश्चय और व्यवहार में महत्वपूर्ण कौन

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि नैश्चयिक आचार अथवा नैतिकता के आन्तरिक स्वरूप और व्यवहारिक आचार या नैतिक आचरण के बाह्यस्वरूप में महत्वपूर्ण कौन है?

जैनदर्शन की दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि यद्यपि साधक की वैयक्तिक दृष्टि से नैतिकता का आन्तरिक पहलू महत्वपूर्ण है लेकिन फिर भी सामाजिक दृष्टि से आचरण के बाह्य पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती—जैन नैतिकता यह मानकर चलती है कि यथार्थ नैतिक जीवन में नैश्चयिक आचार और व्यवहारिक आचरण में एकरूपता होती है, आचरण के आन्तर्

---

१ दर्शन और चिन्तन, भाग २ पृ०-४९८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं बाह्य पक्षों में कोई अन्तर नहीं होता। विशुद्ध मनोभाव की अवस्था में अनैतिक आचरण सम्भव ही नहीं होता। यही नहीं वह नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात भी साधक को संघधर्म के बाह्य नियमों के समाचरण को यथावत करते रहने का विधान करती है। जैसे नैतिकता कहती है कि यदि शिष्य नैतिक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और आचार्य उस पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाया हो फिर भी संघमर्यादा के लिए शिष्य को गुरु की यथावत सेवा करना चाहिए।[1] इस प्रकार वह निश्चय दृष्टि या परमार्थ दृष्टि पर बल देते हुए भी व्यवहार का लोप नहीं करती, मात्र यही नहीं परमार्थ की उपलब्धि पर भी व्यवहार धर्म के यथावत् परिपालन पर आवश्यक बल देती है। गीता और बौद्ध आचारदर्शन भी वैयक्तिक दृष्टि से आचरण के आन्तर् पक्ष पर यथेष्ठ बल देते हुए भी लोक व्यवहार संचरण या आचरण के बाह्य रूपों के परिपालन को भी आवश्यक मानते हैं। गीता कहती है कि जिस प्रकार सामान्य जन लोकव्यवहार का संचरण करता है उस प्रकार विद्वान भी अनासक्त होकर लोकशिक्षा के हेतु को ध्यान में रखकर लोकव्यवहार का संचरण करता रहे।[2] गीता का वर्णाश्रमधर्म और लोकसंग्रह का सिद्धान्त भी इसी का प्रतीक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नैश्चयिक आचार या नैतिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप का वैयक्तिक दृष्टि से पर्याप्त महत्व होते हुए भी लोकदृष्टि से आचरण के बाह्य पक्ष का महत्व झुठलाया नहीं जा सकता। जैनदृष्टि के अनुसार वास्तविकता यह है कि नैतिकता के आन्तर् और बाह्य पक्ष की या नैश्चयिक और व्यावहारिक आचरण की सबलता अपने स्व-स्थान में है। वैयक्तिक दृष्टि से निश्चय या आचरण का आन्तर् पक्ष महत्वपूर्ण है लेकिन समाज दृष्टि से आचरण का बाह्य स्वरूप भी महत्वपूर्ण है, दोनों में कोई तुलना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि निश्चयलक्षी एवं व्यवहारलक्षी आचरण का महत्व व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे दो भिन्न-भिन्न आधारों पर है। दोनों में से किसी एक को भी छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि व्यक्ति स्वयं में ही व्यक्ति और समाज दोनों ही एक साथ है। महात्मा गांधी के आध्यात्मिक गुरु तुल्य सत्पुरुष श्री राजचन्द्रभाई इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं[3] 'यदि कोई निश्चयदृष्टि अर्थात् नैतिक जीवन में आन्तरिक वृत्तियों को ही महत्व देता है और आचरण की बाह्य क्रियाओं (सद् व्यवहार) का लोप करता है वह साधना से रहित है। वास्तविकता यह है कि तात्विक निश्चय दृष्टि को अर्थात् आत्मा असंग, अबद्ध और नित्य सिद्ध है ऐसी वाणी को सुनकर साधन अर्थात् क्रिया को छोड़ना नहीं चाहिए, वरन् परमार्थ-दृष्टि को आदर्श रूप में स्वीकार करके अर्थात् उस पर लक्ष्य रखकर के बाह्य क्रियाओं का आचरण

---

१ जे सदगुरु उपदेशथी पाम्यो केवलज्ञान।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण विनय करे भगवान॥ —**आत्मसिद्धि शास्त्र १९**

२ गीता ३।२५

3 लह्यु स्वरूप न वृत्ति नुं ग्रह्यु व्रत अभिमान।
ग्रहे नहीं परमार्थने लेवा लौकिक मान॥२८

अथवा निश्चय नय ग्रहे मात्र शब्दनी मांय।
लोपे सद्व्यवहारने साधन रहित थाय॥२९

निश्चय वाणी सांभली साधन तजवां नोय।
निश्चय राखी लक्षमां साधन करवां सोय॥१३१

नय निश्चय एकांत थी आमां नथी कहेल।
एकांते व्यवहार नहीं बन्ने साथे रहेल॥१३२

—**आत्मसिद्धि शास्त्र** (राजचन्द्रभाई)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते रहना चाहिए। क्योंकि यथार्थ नैतिक जीवन में एकान्त नैश्चयिक दृष्टि अथवा एकांत व्यवहार दृष्टि अलग-अलग नहीं रहकर कार्य नहीं करती वरन् एक साथ कार्य करती है। नैतिकता के आन्तर्पक्ष और वाह्यपक्ष दोनों ही मिलकर समग्र नैतिक जीवन का निर्माण करते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में आन्तर शुभ और बाह्य व्यवहार नैतिक जीवन के दो भिन्न पहलू अवश्य हैं लेकिन अलग अलग तथ्य नहीं हैं। उन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है लेकिन अलग-अलग किया नहीं जा सकता।' अन्त में हम एक जैनाचार्य के शब्दों में यही कहना चाहेंगे कि—

निश्चय राखी लक्ष मां, पाले जे व्यवहार।
ते नर मोक्ष पामशे संदेह नहीं लगार॥

आनन्द-वचनामृत

- प्रार्थना बुद्धि और तर्क का विषय नहीं किंतु श्रद्धा और भावना का विषय है बुद्धिमानों के लिए प्रार्थना अबूझ पहेली है, किंतु श्रद्धालु भक्त के लिए वह गुड़ की मीठी डली है।

- यह मत देखो कि प्रार्थना लंबी है या छोटी, संस्कृत, प्राकृत में है या भाषा में, किंतु यह देखो कि आपकी तन्मयता उसमें होती है या नहीं। प्रार्थना तो पिता के साथ बच्चे की बात जैसी सरल और भावनात्मक होनी चाहिए।

- प्रार्थना की जो भी विधि, जो भी पाठ हमें शुद्ध चैतन्य के निकट ले जाये वही अच्छा है।

- प्राकृतिक और भौतिक दुनिया में पशु मनुष्य से अधिक समर्थ है, किन्तु बौद्धिक और भावनात्मक दुनिया में मनुष्य पशु से हजार गुना श्रेष्ठ है। जो मनुष्य होकर भी यदि बुद्धि एवं भावना से हीन है तो वह फिर अपने को पशु से श्रेष्ठ कैसे कह सकता है?

- अज्ञान का अर्थ है मिथ्याधारणा—गलत धारणा। मूर्ख को लोग कहते हैं गधा है। गधा कौन?
  ग—अर्थात् गलत
  धा—अर्थात् धारणा।
  गलत धारणा, मिथ्याज्ञान, अज्ञान, मूर्खता ये सब 'गधा' के सूचक हैं।

- संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'देवता' शब्द स्त्रीलिंग है। इसलिए संतों और तपस्वियों को 'देवता' की कामना-उपासना नहीं करना चाहिए, किन्तु जो देवताओं का भी आराध्य है, उस 'परम पुरुष' की उपासना में ही लगना चाहिए।

☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org